भारत का विधि आयोग

न्यायपालिका में जनशक्ति आयोजन :

एक रूपरेखा

120वीं रिपोर्ट

जुलाई, 1987

अर्ध शा० पत्र सं० 2(6)/86-वि०आ०

सेवा में,

श्री पी० शिव शंकर
विधि और न्याय मंत्री
भारत सरकार, शास्त्री भवन,
नई दिल्ली

जुलाई 31, 1978

प्रिय शिव शंकर जी,

विधि आयोग की यह एक संक्षिप्त अंतरिम रिपोर्ट (120वीं रिपोर्ट) प्रस्तुत करते हुए मुझे अत्यंत हर्ष हो रहा है, जिसमें न्यायपालिका में जन शक्ति योजना की रूपरेखा दी गई है ।

2. आपको ज्ञात होगा कि एक पृथक न्यायिक सुधार आयोग स्थापित करने का प्रस्ताव था । फरवरी, 1981 में भारत सरकार ने विधि आयोग को यह सूचित किया कि प्रस्तावित न्यायिक सुधार आयोग के कार्य और कार्यक्षेत्र वर्तमान विधि आयोग को सौंप दिए गए हैं । तभी से इस आयोग ने न्याय दान पद्धति में विद्यमान कमियों के प्रति ध्यान आकृष्ट करने को उच्चतम प्राथमिकता दी है, इस पद्धति में व्याप्त विभिन्न दोषों का निदान किया है, उन क्षेत्रों का पता लगाया है जहां शीघ्र सुधार संभव है और इस पद्धति का पुनरुद्धार करने के लिए उपन्य सुझाए हैं, जिससे कि इस प्रणाली का कार्यकरण चुस्त और यह परिणामप्रदायी और सस्ती हो जाए और आयायग्रस्त लाखों भारतीयों को न्याय सरलता से सुलभ हो जाए । विधि मंत्रालय को रिपोर्ट समय-समय पर प्रस्तुत की जाती रही है । न्यायिक सेवा की विस्तारशील श्रृंखला में यह रिपोर्ट एक कड़ी है । यह एक छोटी सी रिपोर्ट है । यदि आपको इसका अवलोकन करने का समय मिले तो आप तत्काल ही इस निष्कर्ष पर पहुंचेंगे कि लोगों के घर-द्वार पर ही न्याय प्रदान करके, संविधान के अनुच्छेद 39 क के आदेश को मूर्तरूप प्रदान करने के लिए न्यायिक सेवा के विस्तार को उच्चतम प्राथमिकता दी जानी चाहिए । इस संबंध में, भारत सरकार के विचारार्थ कुछ सुझाव दिए गए हैं ।

3. न्यायिक सुधारों में आपकी उत्साहपूर्ण रुचि को देखते हुए, विधि आयोग यह आशा करता है कि आप इस रिपोर्ट के कार्यान्वियन को प्राथमिकता देंगे ।

सादर आपका

ह०

डी० ए० देसाई

यह रिपोर्ट मुख्यत: न्यायपालिका में जनशक्ति योजना की समस्या के बारे में है । यह ऐसा क्षेत्र है जिसकी भारत के नियोजित विकास में प्राय: उपेक्षा की गई है । यद्यपि संसद में और जनता में न्याय प्रशासन में होने वाले लज्जाजनक विलम्ब से संबंधित वाद-विवाद होते रहे हैं और पूववर्ती विधि आयोग ने भी इस समस्या की समीक्षा की है किन्तु इन प्रयत्नों ने भारत में न्याय प्रशासन की सर्वांगीण पुनर्रचना के लिए आवश्यक प्रेरणा और प्रोत्साहन प्रदान नहीं किया है ।

2. इस प्रश्न का उत्तर अनिवार्यत: राजनीतिक और तकनीकी, दोनों ही प्रकार का है । राजनीतिक दृष्टि से, औपनिवेशिक काल से ही सरकार ने जानबूझकर ही न्यायपालिका में कम कर्मचारिवृन्द रखे हैं । स्वतंत्रता के पश्चात भी इसी औपनिवेशिक स्थिति को बने रहने दिया गया है जिसका परिणाम यह हुआ कि भारत संघ ने "युनियन कार्बाइड[2] के मुकदमें में न्यूयोर्क जिला न्यायालय के न्यायाधीश कीनन के समक्ष ऐसी स्थिति को स्वीकार किया है । इस आत्मबोध के बावजूद भी कोई व्यापक कदम नहीं उठाया गया है ।

3. यह आयोग "राजनैतिक" शब्द का प्रयोग भारत सरकार या विभिन्न राज्यों की आलोचना भाव करने के लिए प्रयुक्त नहीं करना चाहता । आयोग इस शब्द का प्रयोग मोटे रूप में इस भाव से करना चाहता है कि राजनैतिक दलों, स्वतंत्र प्रेस, सामाजिक कार्यकर्ताओं और वकीलों की ओर से भी इस समस्या की कुल मिलाकर उपेक्षा की गई है । उपर्युक्त ग्रुपों में से किसी ने भी भारतीय न्यायपालिका में पर्याप्त जनशक्ति योजना के लिए कोई प्रभावी अभियान नहीं चलाया है, जबकि ये ग्रुप समय-समय पर अपने प्रयोजनों के लिए न्यायपालिका की सेवाओं का बड़े प्रभावी रूप में प्रयोग करते रहे हैं । यहां यह भी उल्लेख कर दिया जाए कि उच्च न्यायालयों और भारत के उच्चतम न्यायालय के वर्तमान और सेवानिवृत्त न्यायाधीशों ने भी इस संवैधानिक कार्य में अपना योगदान व्यापक रूप में नहीं दिया है । दूसरे शब्दों में, भारतीय न्यायपालिका का पर्याप्त पुनर्गठन एक साथ प्रत्येक व्यक्ति की चिन्ता बनी रही है और इसीलिए यह किसी की भी चिन्ता का विषय नहीं रहा है ।

4. तकनीकी कारण मात्र यह है कि जनशक्ति योजना के विकासशील विज्ञान की ओर भारत में न्याय प्रशासन के क्षेत्र में नीति निर्धारकों का ध्यान नहीं गया है । पुनर्गठन संबंधी सभी प्रस्ताव मूलत: जोड़-तोड़ वाले, तदर्थ प्रस्ताव हैं तथा इस समस्या के अव्यवस्थित हल हैं :[3]

हमारी राय में इस समस्या के सुसंगत प्रश्न इस प्रकार हैं :

(क) स्वतंत्रता के पश्चात् किन सिद्धांतों पर न्यायपालिका के प्रत्येक काडर में कर्मचारियों की समुचित संस्था से संबंधित विनिश्चय किए गए हैं ?

(ख) क्या इन सिद्धांतों या मापदण्डों पर सार्वजनिक रूप से विचार-विमर्श किया गया है ?

(ग) क्या गत चार दशकों के पश्चात् इनमें कोई परिवर्तन हुआ है, और यदि हुआ है तो यह परिवर्तन किस प्रकार के विचार-विमर्श के परिणामस्वरूप हुआ है ?

(घ) उदाहरणार्थ, संसद् तथा विधान-मंडलों द्वारा गत 40 वर्षों में अधिनियमित विधियों से कितने नए अपराध सृजित किए गए हैं ? इन नए दांडिक अपराधों की प्रस्थापना करते समय क्या न्यायिक विभाग, न्यायालयों के कार्यभार में होने वाली आनुपातिक वृद्धि को ध्यान में रखता है और क्या न्यायपालिका के कर्मचारियों की संख्या में किसी तदनुरूपी वृद्धि का प्रस्ताव करता है ? कृपया इस बात पर ध्यान दें कि इसी प्रकार के प्रश्न विनियामक-विधियों के संबंध में भी पूछे जाने चाहिए ।

(ङ) न्यायिक प्रशासन के भार में केवल विधान-मण्डल द्वारा प्रतिपादित विधियों के कारण ही वृद्धि नहीं होती । ऐसी भी अनेक स्थितियां हैं जबकि उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों ने भी भारत के संविधान के अनुच्छेद 141 के अन्तर्गत बाध्यकर विधि घोषित करने की शक्ति के माध्यम से विधि के नए मानदण्ड स्थापित किए हैं । इनके संबंध में क्या संघ और राज्यों के विधि मंत्रालयों द्वारा कोई रूपरेखा बनाई गई है ? और क्या न्यायपालिका के लिए जनशक्ति योजना करते समय इस रूपरेखा को ध्यान में रखा जाता है ।

---

1. एम० पी० जैन, 'आउटलाइन्स आफ इंडियन लीगल हिस्ट्री' पृ० 254–256 (1981) ।
2. उपेन्द्र बक्शी, 'मास डिजास्टर एण्ड मल्टीनेशनल लायबिलिटी : दि भोपाल केस' पृ. 161 (1986) ।
3. उपेन्द्र बक्शी, 'दि क्राइसेज आफ इण्डियन लीगल सिस्टम', पृ० 58–83 (1982) ।

5. ये दृष्टांतरूपक प्रश्न निःसंदेह इस दुखद तथ्य की ओर संकेत करते हैं कि चार दशकों की स्वतंत्रता के पश्चात भी हम जानकारी का ऐसा न्यूनतम स्तर भी स्थापित नहीं कर सके हैं जिसके आधार पर न्यायपालिका में जनशक्ति योजना के लिए ठोस प्रस्ताव तैयार किए जा सकें । इस स्थिति का तुलनात्मक अध्ययन करने के लिए भी कोई प्रयास नहीं किए गए हैं । उदाहरण के रूप में हमने यह प्रश्न कभी नहीं पूछा है कि हंगरी जैसे छोटे से देश के उच्चतम न्यायालय में 70 न्यायाधीश हैं जबकि भारत के उच्चतम न्यायालय में न्यायाधीशों की संख्या 25 है जो कि बहुत ही अपर्याप्त लगती है । राज्यक्षेत्र और जनसंख्या, दोनों ही दृष्यियों से तथा विधि व्यवस्था की सर्वांगीण रूपरेखा को देखते हुए भी हंगरी और भारत के बीच बहुत ही स्पष्ट अन्तर हैं । इसी प्रकार से हमने भारतीय विधि व्यवसाय के व्यवहार संबंधी अध्ययन पर कभी भी पर्याप्त ध्यान नहीं दिया है और न ही हमने उन प्रवृतियों की सुव्यवस्थित समीक्षा की है जो भारत में सुदृढ़ न्याय प्रशासन के विकास के प्रतिकूल हैं । इन प्रवृतियों के प्रति निःसंदेह कुछ संकेत शासकीय और गैर शासकीय साहित्य में अवश्य मिलते हैं किन्तु ये सब किसी भी प्रकार से एक पर्याप्त वैज्ञानिक विश्लेषण की कोटि में नहीं आते ।

6. आयोग यह महसूस करता है कि ऐसी व्यवस्थित तकनीकी सूचना और विश्लेषण के अभाव ने न्याय प्रशासन सहित सभी संबंधित व्यक्तियों में इस समस्या के प्रति मौन उपेक्षा यदि उत्पन्न नहीं की तो सुदृड़ अवश्य कर दी है । विधि आयोग की वर्तमान संरचना को देखते हुए, आयोग स्वयं में इस प्रकार का कोई तकनीकी विश्लेषण उपलब्ध कराने की स्थिति में नहीं है जिसके आधार पर न्याय प्रशासन में परिवर्तन और सुधार का एक सुदृढ़ कार्यक्रम परिकलिपत किया जा सके । निःसंदेह आयोग ने इसके अलावा एक अच्छा कार्य किया है और वह यह कि इसने सामान्य जनता की ओर उन लोगों की व्यापक राय प्राप्त कर ली है जो इस क्षेत्र में दखल रखते हें किन्तु हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि इस सबके बावजूद भी उपयुक्त प्रयास एक सुदृड़ वैज्ञानिक विश्लेषण का बहुत ही अपर्याप्त विकल्प है ।

7. इस बात को समझना आवश्यक है कि न्यायिक सेवाएं उन सेवाओं का एक महत्वपूर्ण पहलू है जो सेवाएं आधुनिक भारत राज्य द्वारा अपने नागरिकों के लिए उपलब्ध कराई जानी चाहिए इस बाध्यता को और भी मजबूत बनाने के लिए सन 1976 में भारतीय संविधान का विनिर्दिष्ट रुप से संशोधन राज्य के नीति निदेशक मुख्य तत्व के रूप में अनुच्छेद 39क का उपबंध करके किया गया था । इस नीति निदेशक तत्व से न्यायिक सेवाओं में जनशक्ति योजना से संबंधित प्रश्न तुरन्त उठना चाहिए था किन्तु यह प्रश्न अब इस आयोग के माध्यम से संशोधन द्वारा इस संवैधानिक कर्तव्य के विहित किए जाने के सम्पूर्ण एक दशक के पश्चात उठाया जा रहा है । इसके संबंध में क्या सामान्य दृष्टिकोण अपनाए जाएं, यही प्रथम मुख्य प्रश्न है ।

8. निःसंदेह इस प्रश्न पर अनेक परिपेक्षों में विचार किया जा सकता है । सवर्वप्रथम हम, जनसंख्या के दर में साधारण वृद्धि का संबंध सभी काडरों में न्यायाधोशों की संख्या के प्रश्न से स्थापित करने का प्रयत्न कर सकते हें । संसद में राजनैतिक प्रतिनिधित्व के संबंध में जनसंख्या संबंधी तत्व सन 1971 की जनसंख्या के आंकड़ों तक ही निर्बन्धित कर दिया गया है [देखिए अनुच्छेद 81(3) । भारत में प्रति 10 लाख की जनसंख्या के लिए केवल 10.5 न्यायाधीश हैं ; आस्ट्रेलिया की जनसंख्या सन 1975 में लगभग 1 करोड़ थी जबकि वहां न्यायाधोशों की संख्या 575 थी, जिसकी औसत 41.6 न्यायाधीश प्रति 10 लाख (जनसंख्या) थीं ; कैनेडा में सन 1973 में लगभग 2 12 करोड की जनसंख्या के लिए 1,812 न्यायाधीश थे और वहां का औसत 75.2 न्यायाधीश प्रति 10 लाख (जनसंख्या) था ; इंग्लैण्ड में सन 1973 में लगभग 5 करोड़ की जनसंख्या के लिए 2504 न्यायाधीश थे जिनका औसत दर 50.9 न्यायाधीश प्रति 10 लाख (जनसंख्या) था और सन 1981 में संयुक्त राज्य अमेरिका की जनसंख्या भारत की जनसंख्या से एक तिहाई थी किन्तु वहां न्यायाधीशों की संख्या 25,087 थी जिसका औसत दर 107 न्यायाधीश प्रति 10 लाख जनसंख्या था ।

9 सभी प्रकार के संसाधनों संबंधी निर्बन्धनों को देखते हुए हमारे लिए यह भी सुझाव देना संभव नहीं है कि हमें न्यायाधीशों की कुल संख्या तुरन्त बढाकर 25,087 कर देनी चाहिए, जो कि सन 1981 में संयुक्त राज्य अमेरिका की थी । किन्तु यह सिफारिश करने का पर्याप्त न्यायौचित्य है कि हमें 10.5 न्यायाधीश प्रति 10 लाख जनसंख्या के वर्तमान अनुपात को तुरन्त बढाकर कम से कम 50 न्यायाधीश प्रति 10 लाख भारतीय जनसंख्या के समान कर देना चाहिए । हम तदनुसार सिफारिश करते हैं ।

10. यह प्रकल्पित करना कठिन है कि न्यायाधीशों की संख्या थोड़े से समय में ही पांच गुना बढाई जा सकती है । वस्तुतः न्यायाधीशों की संख्या बढाने की यह प्रक्रिया पांच वर्ष की अवधि में पूरी की जानी चाहिए किन्तु किसी भी दशा में यह अवधि दस वर्ष से अधिक नहीं होनी चाहिए । वर्षानुवर्ष न्यायाधीशों की संख्या में वृदि के लिए किए जाने वाले राष्ट्रीय विनिधान का हिसाब भी अनुमान के आधार पर लगाना पडेगा । यह कार्य परिशिष्ट में दिए गए आंकड़ों को देखते हुए कठिन नहीं है । आयोग अंतिम पैसे तक उसका हिसाब लगाने में समर्थ नहीं है । किन्तु इस कार्य को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है । अर्थात न्यायाधीशों के वेतन और परिलब्धियों से संबंधित व्यय तथा प्रशासनिक कर्मचारिवृन्द और मूल भूत संरचनात्मक सुविधाओं में तदनुरूपी वृद्धि । चूंकि उच्च न्यायालय तथा अधीनस्थ न्यायपालिका का व्यय राज्य की संचित निधि पर प्रभारित है । अतः इस वृद्धि का हिसाब लगाने का कार्य प्रत्येक राज्य पर ही छोड़ दिया जाना उचित है ।

[1](1) उपेन्द्र बक्शी, मास डिजास्टर एण्ड मल्टीनेशनल लायबिलिटी : दि भोपाल कैस, पृ० 161 (1986).

11. निःसंदेह इससे न्यायाधीशों की अंतिम और अधिकतम संख्या का प्रश्न उठता है । आयोग यह सिफारिश करता है कि सन् 2000 तक भारत में न्यायाधीशों का अनुपात कम से कम उतना हो जाना चाहिए जितना सन् 1981 में संयुक्त राज्य अमेरिका में था अर्थात् 107 न्यायाधीश प्रति 10 लाख भारतीय जनसंख्या का अनुपात राज्यवार विभिन्न काडरों में न्यायाधीशों की बढ़ी हुई संख्या का परस्पर वितरण सामान्यतया प्रत्येक राज्य की जनसंख्या और वहां संस्थित किए गए मामलों की संख्या के आधार पर किया जाएगा ।

12. इस रिपोर्ट के परिशिष्ट 1(1) में सन् 1984-85 के लिए भारत के उच्चतम न्यायालय में न्यायाधीशों, कर्मचारिवृन्द और अन्य प्रकीर्ण मदों के सम्बन्ध में उपगत व्यय का उल्लेख किया गया है । परिशिष्ट 1(2) में सभी उच्च न्यायालयों से संबंधित ऐसी ही जानकारी दी गई है । परिशिष्ट 1(3) में वर्ष 1981-82 के लिए प्रत्येक राज्य की कुल कर-प्राप्तियां और राज्य न्यायपालिका के संबंध में उपगत व्यय का उल्लेख किया गया है । एक ही झलक में यह प्रकट हो जाएगा कि न्यायपालिका का व्यय प्रत्येक राज्य की कर-प्राप्तियों का एक अत्यल्प भाग ही है, जिसमें न्यायालय-फीस की प्राप्तियां भी सम्मिलित हैं और जिसे अनन्यतः न्याय प्रशासन पर ही खर्च किया जाना चाहिए । अब इस बात पर पुनर्विचार करने का समय है कि क्या न्याय प्रशासन से संबंधित व्यय को 'योजनेत्तर व्यय' कहा जा सकता है ? किसी समय तो इस बात पर पुनर्विचार किया ही जाएगा किन्तु पारम्परिक निर्वचन के अनुसार भी हमारी सिफारिश के परिणामस्वरूप व्यय इतना अधिक नहीं बढ़ेगा जिससे कोई शिकायत हो सके ।

13. यह कहा जा सकता है कि उपर्युक्त विश्लेषण बहुत ही व्यापक मात्रात्मक वृद्धि/विस्तार है और यह कि यह बहुत ही मंहगा है किन्तु यह दोनों आक्षेप निराधार हैं क्योंकि वस्तुतः, देश की जनसंख्या की तुलना में न्यायाधीशों के वर्तमान अनुपात को बनाए रखना कहीं अधिक मंहगा है । आयोग संक्षिप्त रूप से इस व्यय की मात्रा को उपदर्शित नहीं कर सकता किन्तु इससे व्यय की मात्रा का निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत सरलता से पता लगाया जा सकता है :—

(क) प्रत्येक दशक में लगा राजस्व अध्यपायों के विरुद्ध पारित रोक-आदेशों के द्वारा राजकोष को होने वाला कुल खर्चा/लागत ;

(ख) अभिरक्षा में निरुद्ध व्यक्तियों की मानव अधिकार और गरिमा की दृष्टि से लागत/खर्चा जो कि 50,000 रु० प्रति यूनिट की दर से अप्राधिकृत निरोध के लिए प्रति कर के अधिकार के रूप में क्षेत्रीय स्तर पर निर्धारित किया जाता है ;

(ग) राज्य तथा प्राइवेट पक्षकारों, दोनों के मुकदमों पर आने वाली लागत ;

(घ) विधि और व्यवस्था बनाए रखने की कुल मिला कर लागत, और

(ङ) विधि के शासन के प्रति प्रकार से करता हुआ सम्मान ।

14. ऐसे व्यय/लागत की मात्रा का पता लगाने के उपाय और रीतियां हैं जो आरम्भ में अमूर्त सी प्रतीत होता है किन्तु जब इसके बारे में प्रयत्न किया जाएगा तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि हमारा राष्ट्र जनशक्ति योजना की व्यवस्था न होने के कारण न्यायिक सेवाओं में युक्तियुक्त विनिधान की तुलना में, कहीं अत्यन्त अधिक मूल्य चुकाता है ।

15. जहां तक इस संभावित आरोप का संबंध है कि प्रति 10 लाख भारतीय जनसंख्या की दर से न्यायाधीशों की संख्या की अनुपात तय करना है एक बड़ा भारी कठिन कार्य है, आयोग मात्र यह कहना चाहता है कि जनशक्ति योजना का यही एक स्पष्ट मानदंड है । यदि देश की जनसंख्या के आधार पर विधायी प्रतिनिधित्व का हिसाब लगाया जा सकता है, जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है, और यदि राज्य की अन्य सेवाओं अर्थात् कर्मचारिवृन्द, पुलिस आदि की भी इसी प्रकार से योजना बनायी जा सकती है तो न्यायिक सेवाओं के लिये भी इसी सिद्धांत को लागू न करने का बिल्कुल कोई भी कारण नहीं है । इस बात का भी स्पष्टतः उल्लेख कर दिया जाए कि जहां देश की जनसंख्या एक जनसांख्यकीय यूनिट है, वहां यह एक प्रजातांत्रिक यूनिट भी है । दूसरे शब्दों में, हम उन नागरिकों की बात कर रहे हैं जिन्हें जनतांत्रिक अधिकार प्राप्त हैं—जिसमें न्याय तक पहुंच का अधिकार भी सम्मिलित है, और जिसकी व्यवस्था करना राज्य का कर्त्तव्य है ।

16. न्यायाधीशों की अत्यन्त आवश्यक जनसंख्या की मात्रा का हिसाब लगाने के लिए जिस एक अतिरिक्त मापदण्ड का प्रयोग किया जा सकता है वह या तो न्यायालयों में संस्थित किए जाने वाले मुकदमों का दर (अर्थात् स्वतन्त्रता के पश्चात प्रति वर्ष संस्थित किए गए मामलों और पिटिशनों की संख्या) अथवा लंबित मामलों का दर अथवा ये दोनों हैं । भारत के उच्च न्यायालय में संस्थित किए जाने वाले और लंबित मामलों की वर्तमान स्थिति को देखते हुए इस प्रश्न से संबंधित राष्ट्रीय चिन्तन इन्हीं मापदंडों पर आधारित है । इनमें से किसी को भी मापदण्ड मानते हुए, पारम्परिक दृष्टि से भी बहुत सुरक्षित रूप में यह अनुमान लगाया जा सकता है कि आपको न्यायाधीशों की वर्तमान संख्या अर्थात्, 7675 में न्यूनतम वृद्धि करके इसे 40,375 करने की आवश्यकता होगी अर्थात् 10.5 न्यायाधीश प्रति 10 लाख जनता के अनुपात को 50 न्यायाधीश प्रति 10 लाख तक बढ़ाना होगा ।

17. यह विनिधान उस प्रतिपादना से अधिक आकर्षक लगेगा जिसकी हम सिफारिश करते हैं अर्थात् 10 लाख जनसंख्या की दर से न्यायाधीशों के अनुपात में की जाने वाली कुल नियोजित वृद्धि। किन्तु यदि आगामी 20 वर्षों को ध्यान में रखते हुए मुकदमों के संस्थित किए जाने और मामलों के लम्बित, रहने के दरों की परिगणना की जाती है तो विनिधान की कुल मात्रा तथा जनशक्ति योजना की प्रकृति में बहुत पर्याप्त अन्तर नहीं होगा। आयोग भारतीय न्यायपालिका के पुनर्गठन के प्रश्न के सम्बंध में इस रिपोर्ट को एक प्रथम अन्तरिम रिपोर्ट के रूप में पेश करता है। इसी आधार पर कार्य करते हुए आयोग की दूसरी रिपोर्ट न्यायिक नियुक्तियों के ढंग के बारे में होगी; इसकी तीसरी रिपोर्ट न्यायिक प्रशासन के लिए कर्मचारिवृन्द और मूलभूत संरचनात्मक सेवाओं के आबंटन संबंधी संसाधन की समस्या के बारे में होगी जिसमें न्यायपालिका के आधुनिकीकरण के लिए कम्प्यूटर प्रौद्योगिकी का प्रयोग भी सम्मिलित है; और आयोग की चौथी रिपोर्ट विधि व्यवसाय के पुनर्गठन से संबंधित रीतियों और अभावों का पता लगाएगी।

18. आयोग को पूर्ण आशा है कि भारतीय न्यायपालिका के लिए सजीव और सर्वांगीण जनशक्ति, योजना करवाने में सहायता करने के लिए यह प्रथम अन्तरिम रिपोर्ट संसद् में, जनता में और विशेषज्ञों में पर्याप्त विचार-विमर्श को जन्म देगी।

(डी० ए० देसाई)
अध्यक्ष

(एस० सी० घोष)
सदस्य

(वी० एस० रमा देवी)
सदस्य-सचिव

नई दिल्ली, तारीख 31 जुलाई, 1987

परिशिष्ट 1 (i)

वर्ष 1984–85 के दौरान भारत के उच्चतम न्यायालय पर उपगत व्यय

न्यायाधीशों का वेतन	स्थापन कर्मचारिवृन्द का वेतन	अन्य प्रशासनिक व्यय	कुल
15,20,000	1,36 24,000	47,57,000	1,99,01,000

परिशिष्ट 1(2)

उच्च न्यायालयों और उनके स्थापना विभागों पर कुल व्यय जिसके अंतर्गत प्रकीर्ण व्यय भी आता है (सभी आंकड़े वर्ष 1984-85 के लिए 31 मार्च 1985 तक के हैं)*

	न्यायाधीशों के वेतन पर व्यय	कर्मचारिवृन्द के वेतन पर व्यय	प्रशासनिक मामलों पर व्यय	कुल व्यय
अलाहाबाद	30,49,000	2,59,55,000	43,75,000	3,33,79,000
आन्ध्र प्रदेश . . .	1,67,88,300	37,80,300	—	2,05,68,600
मुम्बई	31,20,570	26,05,11,8155	24,59,564	26,60,91,949
कलकत्ता	28,48,310	1,84,03,329	25,44,334	2,37,95,973
दिल्ली	19,78,300	1,10,15,700	27,09,800	1,57,33,800
गोहाटी	14,75,639	65,01,589	20,17,927	99,95,155
गुजरात	15,92,117	75,55,351	24,87,528	1,16,34,996
हिमाचल प्रदेश . . .	3,72,728	27,93,372	18,24,915	49,91,015
जम्मू - कश्मीर . . .	3,66,300	17,03,700	13,07,000	33,77,000
कर्नाटक	17,60,109	1,45,18,876	27,53,013	1,90,31,998
केरल	10,94,731	68,76,175	11,98,476	91,69,382
मध्य प्रदेश	1,22,93,927—जिसमें कर्मचारिवृन्द व्यय सम्मिलित है		24,11,821	1,47,05,748
मद्रास	18,38,000	1,47,05,000	—	1,65,93,000
उड़ीसा	7,21,680	48,41,846	13,13,462	68,76,988
पटना	21,40,950	1,32,07,250	41,65,000	1,95,13,200
पंजाब और हरियाणा . . .	14,67,629	1,47,11,195	23,02,709	1,34,81,533
राजस्थान	8,41,250	66,90,750	20,91,000	96,23,000
सिक्किम	1,90,832	7,86,704	4,08,782	13,81,318

*न्यायालय फीस सुव्यवस्थीकरण तथा संदंधों के प्रश्न पर विधि तथा न्याय मंत्रालय द्वारा की गई जांच के आधार पर ।

परिशिष्ट 1(3)

प्राप्ति और व्यय विवरण

क्रम सं०	राज्य का नाम	राज्य कर प्राप्तियां 1981-82(लाख रुपयों में)	वर्ष 1981—92 के दौरान न्यायपालिका संबंधी खर्च (रुपए लाख में)
1	2	3	4
1.	आन्ध्र प्रदेश	63280	101
2.	असम	8966	213
3.	बिहार	30286	843
4.	गुजरात	58777	669
5.	हरियाणा	27091	214
6.	हिमाचल प्रदेश	3567	126
7.	जम्मू और कश्मीर	4995	125
8.	कर्नाटक	50787	914
9.	केरल	36634	606
10.	मध्य प्रदेश	38772	644
11.	महाराष्ट्र	125708	1339
12.	मणिपुर	15	26
13.	मेघालय	486	24
14.	नागालैण्ड	436	36
15.	उड़ीसा	14771	326
16.	पंजाब	37691	346
17.	राजस्थान	27095	531
18.	सिक्किम	285	14
19	तमिलनाडु	62843	876
20.	त्रिपुरा	362	70
21.	उत्तर प्रदेश	62686	1413
22.	पश्चिम बंगाल	51274	869
23.	अंडमान और निकोबार आइलैंड्स . . .	43	6
24.	अरुणाचल प्रदेश	32	—
25.	चण्डीगढ़	2145	144
26.	दादरा और नागर हवेली	12	1
27.	दिल्ली	28390	251
28.	गोआ, दमन और दीव	1980	33
29.	लक्षदीप	2	एन—ए
30.	मिजोरम	लागू नहीं होता	—
31.	पांडिचेरी	1740	26

न्यायालय फीस के सुव्यवस्थीकरण तथा संदंधों के प्रश्न पर विधि और न्याय मंत्रालय द्वारा की गई जांच के आधार पर ।

PLD. 92 CXX (H)
3oo—1988 (DSK IV)

Price : Rs. 4·45 Foreign £ 0·47 or 1·47 cents.

PRINTED BY THE MANAGER, GOVERNMENT OF INDIA PRESS, MINTO ROAD, NEW DELHI
AND PUBLISHED BY THE CONTROLLER OF PUBLICATIONS, DELHI, 1988